जय नारायण राम लुंडिया

बनाम

केदार नाथ खेतान एवं अन्य

(माननीय न्यायमूर्ति विवियन बोस, न्यायमूर्ति जाफ़र इमाम तथा न्यायमूर्ति चन्द्रशेखर अय्यर)

निष्पादन—अंतरित न्यायालय की शक्तियाँ—विशिष्ट निष्पादन की डिक्री—परस्पर शर्तें अविभाज्य रूप से संबद्ध—किसी महत्वपूर्ण पहलू में परिवर्तन, यदि अनुमेय हो—दीवानी प्रक्रिया संहिता (अधिनियम 5/1908), धारा 47, 42, आदेश 21, नियम 32(1)।

निष्पादन न्यायालय डिक्री के पीछे जाकर उसके शर्तों में परिवर्तन नहीं कर सकता और जब डिक्री द्वारा पक्षकारों पर आरोपित दायित्व परस्पर एवं अविभाज्य हों, जिससे आंशिक निष्पादन असंभव हो, तब डिक्री को उसी रूप में पूर्णतः निष्पादित किया जाना चाहिए अथवा बिल्कुल नहीं किया जाना चाहिए। यह सिद्धांत विशेष रूप से विशिष्ट निष्पादन की डिक्री के मामलों में लागू होता है, जहाँ निष्पादन की मांग करने वाले पक्ष को निष्पादन न्यायालय को यह संतुष्ट करना होता है कि वह डिक्री द्वारा उस पर आरोपित दायित्वों का पालन करने में सक्षम है।

जहाँ डिक्री के अंतर्गत किसी पक्ष को दूसरे को क्या प्रदान करना है, उसकी पहचान या स्वरूप विवादित हो, वहाँ उसका निर्णय करने की शक्ति केवल निष्पादन न्यायालय को दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 47 के अंतर्गत प्राप्त है, तथा धारा 42 के अनुसार, स्थानांतरण पर डिक्री का निष्पादन करने वाले न्यायालय की शक्तियाँ वही होती हैं जो उस न्यायालय की होती हैं जिसने डिक्री पारित की थी।

यद्यपि दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 32(1) के अंतर्गत उपलब्ध उपाय विशिष्ट निष्पादन की डिक्री के निष्पादन में प्रयोज्य है, किन्तु उसका उपयोग केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो डिक्री के निष्पादन का अधिकारी हो, और यदि वह अपने दायित्वों के पालन में असमर्थ होने के कारण निष्पादन की मांग करने से वंचित है, तो आदेश 21, नियम 32(1) का कोई अनुप्रयोग नहीं होगा।

फलतः, वर्तमान मामले में जहाँ उत्तरदाता ने संविदा के विशिष्ट निष्पादन की डिक्री का निष्पादन चाहा, परंतु वह स्वयं डिक्री द्वारा उस पर आरोपित एक दायित्व—अर्थात् साझेदारी फर्म में पाँच आने का हिस्सा स्थानांतरित करने—का पालन करने में असमर्थ था, क्योंकि निष्पादन की तिथि से पूर्व ही फर्म का विघटन हो चुका था, वह डिक्री के निष्पादन का अधिकारी नहीं था।

अतिरिक्त रूप से अभिनिर्धारित कि उत्तरदाता को विघटित फर्म की परिसंपत्तियों में पाँच आने के हिस्से के रूप में प्रतिस्थापन की अनुमति नहीं दी जा सकती, क्योंकि ऐसा करना डिक्री में परिवर्तन के समान होगा, जो निष्पादन न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में नहीं है।

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार : 1955 की दीवानी अपील संख्या 206।

दिनांक 5 मई 1954 को पटना उच्च न्यायालय द्वारा मूल आदेश अपील संख्या 284/1951 में पारित निर्णय एवं आदेश के विरुद्ध अपील, जो दिनांक 11 जुलाई 1951 को मोतिहारी के अधीनस्थ न्यायाधीश की न्यायालय द्वारा विविध वाद संख्या 30/1951 में पारित आदेश से उत्पन्न हुआ था।

अपीलकर्ता की ओर से : *वेदा व्यास (उनके साथ श्री एस. के. कपूर एवं गणपत राय)।* उत्तरदाता संख्या 1 की ओर से : *श्री ओ. के. दफ्तरी, भारत के सॉलिसिटर जनरल (उनके साथ श्री के. बी. अस्थाना एवं श्री ओ. पी. लाल)।*

1956, 31 जनवरी। न्यायालय का निर्णय निम्नलिखित द्वारा दिया गया—

न्यायमूर्ति बोस—यह अपील कुछ निष्पादन कार्यवाहियों से उत्पन्न हुई है। जिस डिक्री का निष्पादन अपीलकर्ता, जय नारायण राम लुंडिया, करना चाहता है, वह एक ऐसी डिक्री है जो एक निजी सीमित कंपनी, जिसे गंगा देवी शुगर मिल्स कहा जाता है, के कुछ अंशों की बिक्री के अनुबंध के विशिष्ट निष्पादन का निर्देश देती है, साथ ही 'मारवाड़ी ब्रदर्स' नामक एक साझेदारी फर्म में पाँच आने के हिस्से के हस्तांतरण का भी निर्देश देती है, जिसके बदले ₹2,45,000 की राशि का भुगतान किया जाना है। तथ्य इस प्रकार हैं— 'मारवाड़ी ब्रदर्स' नामक साझेदारी फर्म का गठन 29 फरवरी 1936 को हुआ था। इसके भागीदार दो समूहों में विभाजित थे, जिन्हें 'बेतिया समूह' और 'पडरौना समूह' कहा जाता था। पडरौना समूह में (1) केदारनाथ खेतान तथा (2) 'सूरजमल' नामक एक फर्म सम्मिलित थी। ये दोनों वाद में वादी थे। केदारनाथ, सूरजमल फर्म के एक भागीदार थे। बेतिया समूह में (1) गोबरधन दास, (2) जय नारायण राम लुंडिया, (3) बद्री प्रसाद तथा (4) बिशेश्वर नाथ सम्मिलित थे। बिशेश्वर नाथ की मृत्यु के पश्चात उनके स्थान पर उनके पुत्र मदन लाल झुंझुनवाला ने प्रवेश किया। ये सभी व्यक्ति वाद में उत्तरदाता थे।

'मारवाड़ी ब्रदर्स' फर्म का गठन चंपारण में एक चीनी मिल स्थापित करने हेतु एक कंपनी को प्रोत्साहित करने तथा उस कंपनी की प्रबंध अभिकरण (मैनेजिंग एजेंसी) 90 वर्षों की अवधि के लिए प्राप्त करने के उद्देश्य से किया गया था। यह उद्देश्य पूरा किया गया। कंपनी की पूंजी ₹8,00,000 थी, जिसे ₹1,000 के 800 शेयरों में विभाजित किया गया था। इन शेयरों का वितरण इस प्रकार था— बेतिया समूह में गोबरधन दास एवं उनके भाई बद्री प्रसाद के पास 100 शेयर थे; जय नारायण के पास 150 शेयर तथा मदन लाल के पास 100 शेयर थे। इस प्रकार बेतिया समूह के पास कुल 350 शेयर थे। अन्य समूह (पडरौना) के पास शेष 450 शेयर थे।

लगभग पाँच वर्ष बाद दोनों समूहों के साझेदारों के बीच विवाद उत्पन्न हो गया और परिणामस्वरूप बेतिया समूह ने दिनांक 1-1-1941 को गंगा देवी शुगर मिल्स लिमिटेड के अपने कुछ शेयर पडरौना समूह को बेचने तथा उसके साथ मारवाड़ी ब्रदर्स फर्म में अपने हिस्से का एक अंश हस्तांतरित करने पर सहमति व्यक्त की। बेचे जाने वाले शेयरों की सटीक संख्या तथा फर्म में हिस्सेदारी की मात्रा विवाद का विषय थी, किंतु इस स्तर पर वह हमारे विचार का विषय नहीं है, क्योंकि हम केवल उस अंतिम निष्कर्ष से संबंधित हैं जो वर्तमान में निष्पादनाधीन डिक्री में समाहित है।

पडरौना समूह ने विशिष्ट निष्पादन के लिए वाद दायर किया और यह विवाद संघीय न्यायालय तक गया। उक्त न्यायालय ने दिनांक 6-5-1949 को कलकत्ता उच्च न्यायालय के डिक्री की पुष्टि की। डिक्री का सार इस प्रकार था—

1. "यह घोषित किया जाता है कि वादियों द्वारा उत्तरदाता-अपीलकर्ता जय नारायण राम लुंडिया एवं मदन लाल झुंझुनवाला को ₹2,45,000 की राशि, उस पर देय ब्याज सहित, भुगतान अथवा निवेदन करने पर, वादीगण गंगा देवी शुगर मिल्स लिमिटेड में उक्त उत्तरदाताओं के स्वामित्व वाले 250 शेयरों तथा मारवाड़ी ब्रदर्स में उनके पाँच आने के हिस्से के अधिकारी होंगे, तथा दिनांक 1-2-1941 से उन पर प्राप्त होने वाले सभी लाभांश एवं लाभ के भी अधिकारी होंगे।"

2. "और यह भी आदेशित एवं डिक्री किया जाता है कि उपर्युक्त ₹2,45,000 की राशि तथा उस पर देय ब्याज के भुगतान या निवेदन के पश्चात उक्त उत्तरदाता-अपीलकर्ता तथा अन्य आवश्यक पक्षकार वादियों के पक्ष में गंगा देवी शुगर मिल्स लिमिटेड के उक्त 250 शेयरों तथा मारवाड़ी ब्रदर्स के उक्त पाँच आने के हिस्से के हस्तांतरण या अभिदान के लिए विधिवत अभिलेख निष्पादित करें।"

यह प्रथम न्यायालय की डिक्री में कुछ परिवर्तन के साथ पारित किया गया था। उस परिवर्तन का सटीक स्वरूप यहाँ महत्वपूर्ण नहीं है। यह उल्लेख करना पर्याप्त है कि वादियों (अर्थात् पडरौना समूह) ने प्रथम न्यायालय की डिक्री के पश्चात तथा कलकत्ता उच्च न्यायालय की डिक्री से पूर्व किसी समय उक्त राशि निवेदित (टेंडर) की थी। यह निवेदन स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि उत्तरदाताओं (बेतिया समूह) ने अपील कर दी थी। यह स्वीकार किया गया है कि उच्च न्यायालय की डिक्री के पश्चात कोई दूसरा निवेदन नहीं किया गया।

संघीय न्यायालय द्वारा विवाद का अंतिम निस्तारण किए जाने के पश्चात, उत्तरदाताओं में से एक, जय नारायण राम लुंडिया ने कलकत्ता उच्च न्यायालय के समक्ष डिक्री के निष्पादन हेतु आवेदन प्रस्तुत किया। तत्पश्चात डिक्री को मोतिहारी के अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में स्थानांतरित किया गया और वहाँ दिनांक 25-1-1951 से निष्पादन कार्यवाही प्रारंभ हुई। वादियों में से एक, केदारनाथ खेतान ने दिनांक 20-3-1951 को आपत्ति याचिका दायर की। वही आपत्ति इस वाद में विचाराधीन है। अन्य बातों के साथ यह आपत्ति उठाई गई कि उत्तरदाता डिक्री द्वारा उन पर आरोपित शर्तों का पालन करने की स्थिति में नहीं हैं, क्योंकि संघीय न्यायालय की डिक्री से पूर्व ही पक्षकारों के मध्य समझौते से 'मारवाड़ी ब्रदर्स' फर्म का विघटन हो चुका था और वह अस्तित्व में नहीं रही थी। वर्तमान अपील मुख्यतः इसी तथ्य तथा उससे उत्पन्न परिणामों पर आधारित है।

प्रथम न्यायालय, अर्थात् मोतिहारी के अधीनस्थ न्यायाधीश की न्यायालय, जहाँ डिक्री स्थानांतरित की गई थी, ने इस प्रश्न पर विचार करने से यह कहते हुए इंकार कर दिया कि एक अंतरित न्यायालय होने के नाते उसके पास इस विषय पर विचार करने का क्षेत्राधिकार नहीं है।

इसके विरुद्ध वादी केदारनाथ ने उच्च न्यायालय में अपील दायर की और सफल हुआ। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अंतरित न्यायालय के पास इस प्रश्न पर विचार

करने का क्षेत्राधिकार है, 'मारवाड़ी ब्रदर्स' फर्म का विघटन हो चुका था और इस कारण उत्तरदाता डिक्री का निष्पादन करने के अधिकारी नहीं थे।

उत्तरदाताओं ने इसके विरुद्ध इस न्यायालय में अपील दायर की।

सबसे पहले हम इस तथ्यात्मक प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या निष्पादन आवेदन की तिथि पर 'मारवाड़ी ब्रदर्स' फर्म अस्तित्व में थी या नहीं। इस प्रश्न पर हम उच्च न्यायालय के मत से सहमत हैं कि वह अस्तित्व में नहीं थी, निम्नलिखित कारणों से।

वादी केदारनाथ ने अपनी आपत्ति याचिका में यह स्पष्ट रूप से कहा कि फर्म का विघटन पक्षकारों के मध्य हुए समझौते से हो चुका था, "जिसमें वादी एवं उत्तरदाता दोनों सम्मिलित थे।" इस तथ्य का उत्तरदाता जय नारायण राम लुंडिया द्वारा अपने प्रत्युत्तर में खंडन नहीं किया गया, जबकि यह विशेष रूप से आरोपित किया गया था कि यह तथ्य उसकी व्यक्तिगत जानकारी में है। यदि वह यह नहीं जानता था कि फर्म का विघटन हुआ है या नहीं (जो कि आगे दिए जाने वाले कारणों से संभव नहीं है), तब भी वह इस बात को स्वीकार या अस्वीकार करने की स्थिति में अवश्य था कि यह तथ्य उसकी व्यक्तिगत जानकारी में है या नहीं। अतः उसकी चुप्पी का केवल एक ही अर्थ निकाला जा सकता है।

उत्तरदाता के विद्वान अधिवक्ता ने हमारे समक्ष यह तर्क प्रस्तुत किया कि यह तथ्य परोक्ष रूप से अस्वीकृत किया गया था, क्योंकि केदारनाथ ने यह कहा था कि उसकी ओर से डिक्री के पालन हेतु तत्परता थी और सदैव बनी रही। अधिवक्ता का यह तर्क था कि चूँकि वादी यह कह रहे थे कि मारवाड़ी ब्रदर्स फर्म के विघटन के पश्चात निष्पादन संभव नहीं था, अतः इसका अर्थ यह हुआ कि फर्म अभी भी अस्तित्व में थी। हम इस तर्क को अस्वीकार करते हैं और यह भी उल्लेख करते हैं कि यह तर्क इस न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत एक अन्य तर्क के विपरीत है,

जिसमें कहा गया था कि फर्म के विघटन से उत्तरदाता के पक्ष में निष्पादन में कोई बाधा नहीं आती।

प्रत्युत्तर की भाषा से पृथक, उत्तरदाता जय नारायण ने दिनांक 12-7-1954 को उच्च न्यायालय में अपील की अनुमति हेतु प्रस्तुत अपने आवेदन के पैराग्राफ 15 में यह कहा कि—

"उक्त मारवाड़ी ब्रदर्स 14 सितंबर 1950, अर्थात् उक्त अभिलेख (कन्वेयंस) की तिथि तक अस्तित्व में थी और गंगा देवी शुगर मिल्स के उत्तर बिहार शुगर मिल्स को हस्तांतरण के पश्चात स्वाभाविक रूप से समाप्त हो गई।"

यह एक स्पष्ट स्वीकृति है कि फर्म का विघटन कम से कम 14-9-1950 को हो चुका था। वादी का यह कथन है कि विघटन इससे भी पूर्व हो गया था, किन्तु यह तथ्य इस अपील के लिए महत्वहीन है, क्योंकि 14-9-1950 की तिथि भी निष्पादन आवेदन की तिथि से पूर्व की है।

उत्तरदाता के विद्वान अधिवक्ता ने इस कथन की भी व्याख्या करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि उत्तरदाता का आशय यह नहीं था कि उस तिथि को फर्म का विधिवत विघटन हो गया था, बल्कि यह कि जिस एकमात्र उद्देश्य के लिए फर्म अस्तित्व में थी, अर्थात् गंगा देवी शुगर मिल्स की प्रबंध अभिकरण, वह समाप्त हो जाने के कारण फर्म आगे कार्य करने में सक्षम नहीं रही। इस तर्क को समझने के लिए कुछ और तथ्यों का उल्लेख आवश्यक है।

जब वादी की अपील उच्च न्यायालय में विचाराधीन थी, तब उत्तरदाताओं ने दिनांक 14-4-1954 को एक आवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने दिनांक 14-9-1950 के एक विक्रय विलेख के रूप में अतिरिक्त साक्ष्य प्रस्तुत करने की अनुमति माँगी। उत्तरदाता का कथन था कि उसे हाल ही में यह जानकारी प्राप्त हुई कि गंगा देवी शुगर मिल्स ने दिनांक 14-9-1950 को अपनी समस्त भूमि, मशीनरी आदि उत्तर बिहार शुगर मिल्स को विक्रय कर दी थी। इससे प्रबंध

अभिकरण समाप्त हो गया और चूँकि फर्म का एकमात्र व्यवसाय यही प्रबंध अभिकरण था तथा उसी उद्देश्य से फर्म का गठन किया गया था, अतः वह आगे कार्य करने में सक्षम नहीं रही। तथापि, उसने यह भी कहा कि यह विलेख इस बात को निर्णायक रूप से सिद्ध करेगा कि उस तिथि पर फर्म अस्तित्व में थी। उच्च न्यायालय ने इस दस्तावेज़ को स्वीकार करने से इंकार कर दिया, क्योंकि उसके मत में अपील में अतिरिक्त साक्ष्य तभी स्वीकार किया जा सकता है जब न्यायालय उपलब्ध सामग्री के आधार पर निर्णय देने में असमर्थ हो; चूँकि यहाँ ऐसी स्थिति नहीं थी, अतः उस दस्तावेज़ को अस्वीकार कर दिया गया।

यह निर्णय करना आवश्यक नहीं है कि *केसोजी इस्सुर बनाम जी.आई.पी. रेलवे* तथा *परसोतम बनाम लाल मोहर* के प्रकरणों में प्रतिपादित दृष्टिकोण और *इन्द्रजीत प्रताप साहि बनाम अमर सिंह* के प्रकरण के बीच कोई विरोध है या नहीं, क्योंकि यदि उक्त अतिरिक्त साक्ष्य को स्वीकार भी कर लिया जाए और उसे सत्य भी मान लिया जाए, तब भी उच्च न्यायालय के समक्ष उत्तरदाता की यह स्वीकृति बनी रहती है कि फर्म का विघटन कम से कम 14-9-1950 को हो चुका था। हम इस कथन की कोई अन्य व्याख्या करने में असमर्थ हैं। वादी का कहना है कि विघटन इससे भी पूर्व हो गया था तथा जिस फर्म का उल्लेख अब प्रस्तुत किए जाने वाले विक्रय विलेख में किया गया है, वह वही फर्म नहीं है बल्कि उसी नाम की कोई अन्य फर्म है; तथापि यदि उत्तरदाता का कथन भी स्वीकार कर लिया जाए, तब भी यह तथ्य बना रहता है कि उसकी अपनी स्वीकृति के अनुसार निष्पादन आवेदन से पूर्व ही फर्म का विघटन हो चुका था और इस प्रकार उत्तरदाता 'मारवाड़ी ब्रदर्स' फर्म में अपने पाँच आने के हिस्से का हस्तांतरण करने की स्थिति में नहीं थे। अब हमें इसका प्रभाव विचार करना है।

(1) [1907] एल.आर. 84 आई.ए. 115, 122.

(2) [1981] एल.आर. 58 आई.ए. 254.

(3) [1928] एल.आर. 50 आई.ए. 183, 190, 191.

इस विषय में प्रस्तुत तर्कों का अधिकांश भाग इस प्रश्न के इर्द-गिर्द रहा कि क्या विशिष्ट निष्पादन के वाद में डिक्री पारित होने से पूर्व लागू होने वाले न्यायसंगत सिद्धांत, निष्पादन की अवस्था में भी लागू रहते हैं। तथापि, वर्तमान मामले में इस प्रश्न में जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहाँ स्थिति अधिक सरल है। जब कोई डिक्री दोनों पक्षों पर ऐसे दायित्व आरोपित करती है जो परस्पर इस प्रकार निर्भर हों कि एक पक्ष का पालन दूसरे पक्ष के पालन पर निर्भर हो, तब निष्पादन तभी आदेशित किया जा सकता है जब निष्पादन की मांग करने वाला पक्ष न केवल अपने दायित्वों के पालन का प्रस्ताव करे, बल्कि जब इस संबंध में आपत्ति उठाई जाए, तब निष्पादन न्यायालय को यह भी संतुष्ट करे कि वह ऐसा करने की स्थिति में है। अन्यथा कोई भी भिन्न नियम डिक्री की शर्तों में परिवर्तन करने के समान होगा, जो कि निष्पादन न्यायालय नहीं कर सकता। निस्संदेह ऐसे भी डिक्री हो सकते हैं जहाँ दोनों पक्षों पर आरोपित दायित्व पृथक एवं विभाज्य हों, और ऐसी स्थिति में प्रत्येक पक्ष अपने-अपने निष्पादन हेतु स्वतंत्र हो सकता है। किन्तु जब दायित्व परस्पर एवं अविभाज्य हों और इस प्रकार परस्पर संबद्ध हों कि उन्हें अलग नहीं किया जा सके, तब एकपक्षीय रूप से निष्पादन कराने का कोई भी प्रयास डिक्री के निर्देशों को निष्फल करने के समान होगा तथा उसके परे जाने के समान होगा, जो कि निष्पादन न्यायालय नहीं कर सकता। अतः एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान मामले की डिक्री इसी प्रकार की है। इस संबंध में हम पूर्णतः आश्वस्त हैं कि ऐसा ही है।

डिक्री का प्रासंगिक भाग पूर्व में उद्धृत किया जा चुका है। उसमें यह निर्देश दिया गया है कि "वादियों द्वारा भुगतान या निवेदन किए जाने पर ... उक्त उत्तरदाता ... वादियों के पक्ष में ... 'मारवाड़ी ब्रदर्स' में पाँच आने के हिस्से के हस्तांतरण हेतु विधिवत अभिलेख निष्पादित करें।"

यह ऐसा मामला नहीं है जिसमें एक ही डिक्री में दो स्वतंत्र एवं पृथक निर्देश हों, बल्कि यह परस्पर शर्तों का ऐसा समूह है जो अविभाज्य रूप से एक-दूसरे से संबद्ध है और एक-दूसरे के

बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता। यह तथ्य कि यह विशिष्ट निष्पादन की डिक्री है, जिसमें स्वयं डिक्री तभी प्रदान की जा सकती है जब निष्पादन चाहने वाला पक्ष अपने दायित्वों के पालन हेतु तत्पर एवं इच्छुक हो तथा उसे पूरा करने की स्थिति में हो, इस निष्कर्ष को और अधिक सुदृढ़ करता है कि प्रयुक्त भाषा का यही आशय एवं अभिप्राय था। किन्तु जिस सिद्धांत पर हम अपना निर्णय आधारित कर रहे हैं, वह केवल विशिष्ट निष्पादन के मामलों तक सीमित नहीं है। यह उन सभी मामलों में लागू होगा जहाँ डिक्री इस प्रकार शर्तबद्ध हो कि एक पक्ष का दूसरे से निष्पादन की मांग करने का अधिकार, उसके स्वयं अपने दायित्वों को पूरा करने की तत्परता एवं क्षमता पर निर्भर हो। इसका कारण यह है कि अन्यथा मान लेने से निष्पादन न्यायालय को डिक्री के परे जाकर उसकी शर्तों में परिवर्तन करने की अनुमति मिल जाएगी, जिससे वह उस अविभाज्य संरचना को, जो एक समग्र रूप में निर्मित की गई थी, अलग-अलग और विभाज्य भागों में विभक्त कर देगा, मानो वे पृथक-पृथक वादों में पारित अलग-अलग डिक्री हों।

हमें *विशिष्ट निष्पादन* पर फ्राई (छठा संस्करण, अध्याय 4, पृष्ठ 546 आदि) का उल्लेख कराया गया, जहाँ लेखक ने कहा है कि अनेक मामलों में निर्णय के पश्चात भी वही राहत प्राप्त की जा सकती है जो निर्णय से पूर्व उपलब्ध थी; उदाहरणार्थ, संविदा का पक्षकार उपयुक्त परिस्थितियों में संविदा के निरस्तीकरण के लिए आवेदन कर सकता है। दूसरी ओर यह तर्क दिया गया कि यदि ऐसा संभव भी हो, तो वह केवल उसी न्यायालय के समक्ष किया जा सकता है जिसने डिक्री पारित की है, न कि निष्पादन की कार्यवाही में। हम इस प्रश्न की परीक्षा आवश्यक नहीं समझते, क्योंकि भले ही ऐसे उपाय उपलब्ध हों और उचित न्यायालय के समक्ष आवेदन द्वारा प्राप्त किए जा सकते हों, इससे निष्पादन के मूल सिद्धांत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि निष्पादन न्यायालय को डिक्री को उसी रूप में स्वीकार करना होगा और वह उसके परे नहीं जा सकता। यदि डिक्री में यह कहा गया है कि किसी भुगतान के बदले कोई निश्चित एवं विशिष्ट

वस्तु या अधिकार प्रदान किया जाना है, तो निष्पादन न्यायालय उसमें परिवर्तन कर किसी अन्य वस्तु या अधिकार का प्रतिस्थापन करने की अनुमति नहीं दे सकता।

उत्तरदाता-अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यदि 'मारवाड़ी ब्रदर्स' फर्म का अस्तित्व समाप्त भी हो गया हो, तब भी वादी उसके विघटन के पश्चात उसकी परिसंपत्तियों में पाँच आने के हिस्से का अधिकारी रहेगा। किन्तु किसी विघटित फर्म की परिसंपत्तियों में पाँच आने का हिस्सा, जो अब अस्तित्व में नहीं है, एक चालू साझेदारी फर्म में पाँच आने के हिस्से से सर्वथा भिन्न है; और इस प्रकार के प्रतिस्थापन की अनुमति देना डिक्री में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन करना होगा। उत्तरदाता को यह अधिकार हो भी सकता है या नहीं कि वह डिक्री पारित करने वाले न्यायालय से इस प्रकार परिवर्तन का अनुरोध करे, किन्तु वह निष्पादन न्यायालय से ऐसा करने का आग्रह नहीं कर सकता। डिक्री का निष्पादन या तो विधि द्वारा अनुमत किसी तरीके से उसी रूप में किया जाना चाहिए या बिल्कुल नहीं किया जाना चाहिए।

उच्च न्यायालय में तथा हमारे समक्ष भी इस बात पर विशेष बल दिया गया कि वादी ने उच्च न्यायालय द्वारा डिक्री में परिवर्तन किए जाने के पश्चात पुनः राशि का निवेदन नहीं किया, और यह तर्क दिया गया कि इससे वह दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 32(1) के अंतर्गत उत्तरदाता द्वारा उसकी संपत्ति संलग्न करने के अधिकार का विरोध करने से वंचित हो जाता है। आदेश 21, नियम 32(1) के अंतर्गत उपलब्ध उपाय, निस्संदेह, विशिष्ट निष्पादन की डिक्री के निष्पादन में उपलब्ध उपायों में से एक है, किन्तु इसका उपयोग केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो डिक्री के निष्पादन का अधिकारी हो; और यदि वह अपने ही दायित्वों के पालन में असमर्थ होने के कारण निष्पादन की मांग करने से वंचित है, तो आदेश 21, नियम 32(1) का कोई अनुप्रयोग नहीं होगा।

अब केवल यह प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या निष्पादन न्यायालय यह विचार कर सकता है कि उत्तरदाता डिक्री के अपने भाग का पालन करने की स्थिति में है या नहीं। निःसंदेह वह ऐसा कर सकता है। यदि निष्पादन न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नहीं करेगा, तो फिर कौन करेगा? निष्पादन न्यायालय का कर्तव्य है यह सुनिश्चित करना कि उत्तरदाता वादी को वही वस्तु या अधिकार प्रदान करे जिसका निर्देश डिक्री में किया गया है, न कि कुछ अन्य। अतः यदि उसकी पहचान या स्वरूप के संबंध में कोई विवाद उत्पन्न होता है, तो उसका निर्णय केवल वही न्यायालय कर सकता है जो डिक्री का निष्पादन कर रहा है। यह विषय स्पष्ट रूप से डिक्री के निष्पादन, निर्वहन एवं संतुष्टि से संबंधित है और इसलिए दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 47 के अंतर्गत इसका निर्णय केवल निष्पादन न्यायालय ही कर सकता है।

जहाँ तक प्रथम न्यायालय के इस निष्कर्ष का प्रश्न है कि वह इन विषयों पर विचार नहीं कर सकता क्योंकि वही न्यायालय नहीं है जिसने डिक्री पारित की थी, यह कहना पर्याप्त है, जैसा कि उच्च न्यायालय ने कहा, कि संहिता की धारा 42 स्पष्ट रूप से उस न्यायालय को, जिसे डिक्री निष्पादन हेतु भेजी गई है, वही शक्तियाँ प्रदान करती है जो उस न्यायालय को प्राप्त होती हैं जिसने डिक्री पारित की थी।

अपीलकर्ता द्वारा अगला तर्क यह प्रस्तुत किया गया कि चूँकि वादी ने संघीय न्यायालय के समक्ष, जब उसने डिक्री पारित की, वर्तमान आपत्ति नहीं उठाई, अतः वह अब ऐसा करने से वंचित है। यह सत्य है कि यह तर्क विशिष्ट निष्पादन की डिक्री का विरोध करने के लिए एक उपयुक्त आधार हो सकता था, किन्तु निष्पादन के विरुद्ध उठाई गई आपत्ति का यह कोई उत्तर नहीं है। उत्तरदाता ने डिक्री पारित होने के समय अपने दायित्वों के पालन का दायित्व स्वीकार किया था और जब तक वह उस दायित्व को पूरा नहीं करता, तब तक वह निष्पादन की मांग नहीं कर सकता, क्योंकि डिक्री, उसकी भाषा एवं अभिप्राय के अनुसार, या तो संपूर्ण रूप से

निष्पादित की जानी चाहिए या बिल्कुल नहीं; उसे अलग-अलग और असंबद्ध भागों में विभाजित कर एकपक्षीय रूप से निष्पादित नहीं किया जा सकता। यह भी उल्लेखनीय है कि यदि उत्तरदाता के कथनानुसार उसे उस समय तथ्यों की जानकारी नहीं थी, तो उसके लिए भी यह उतना ही आवश्यक था कि वह डिक्री पारित करने वाले न्यायालय से संविदा में संशोधन या पश्चात डिक्री की शर्तों में परिवर्तन का अनुरोध करे, जितना कि वादी के लिए। तथ्य यह है कि डिक्री इन्हीं शर्तों पर पारित हुई थी और जब तक उसे पारित करने वाला न्यायालय उसमें परिवर्तन या संशोधन नहीं करता, तब तक उसका निष्पादन उसी रूप में या बिल्कुल नहीं किया जा सकता। इसके पश्चात यह तर्क दिया गया कि निष्पादन के विरुद्ध यह आपत्ति वादी द्वारा कलकत्ता उच्च न्यायालय में उस समय उठाई जानी चाहिए थी जब उत्तरदाता ने डिक्री को मोतिहारी स्थानांतरित करने का अनुरोध किया था, और चूँकि ऐसा नहीं किया गया, अब बहुत देर हो चुकी है। किन्तु इसका उत्तर भी वही है। कलकत्ता उच्च न्यायालय के समक्ष उस आवेदन में एकमात्र प्रश्न यह था कि डिक्री का स्थानांतरण किया जाए या नहीं। यह प्रश्न कि वादी वहाँ यह आपत्ति उठा सकता था या नहीं, अप्रासंगिक है, क्योंकि स्थानांतरण के आवेदन में केवल यही विचारणीय था कि डिक्री स्थानांतरित की जानी चाहिए या नहीं; अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि वादी के पास दो मंचों में से किसी एक को चुनने का विकल्प था। यदि अपीलकर्ता के इस तर्क को उसके तार्किक निष्कर्ष तक ले जाया जाए, तो इसका अर्थ होगा कि जैसे ही कोई डिक्री स्थानांतरित की जाती है, निष्पादन से संबंधित सभी आपत्तियाँ समाप्त हो जाएँगी, जब तक कि स्थानांतरण का आदेश देने वाला न्यायालय स्पष्ट रूप से उन मुद्दों का उल्लेख न करे जिन्हें अंतरित न्यायालय विचार कर सकता है। हमारे मत में दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 42 इस तर्क का पूर्ण उत्तर प्रदान करती है। अतः अपील असफल होती है और व्यय सहित निरस्त की जाती है।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नही किया जा सकता । समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।